पहाड़ी लोकनृत्य

- डॉ. ममता कुमारी

भारतीय साहित्य में लोक रंगमंच की समृद्ध विरासत है। वैदिक संस्कृति से लेकर बौद्ध साहित्य तक लोक रंगमंच ने अनेकों छटाएँ बिखेरी हैं। भारतीय इतिहास में वास्तविक लोक रंगमंच 15वीं-16वीं शताब्दी में वेदों, पुराणों, पौराणिक ऐतिहासिक महाकाव्यों, मिथकों व पौराणिक गाथाओं के नायकों की कथाओं के रूप में उभरा। बाद में लोकनाट्य की शैलियाँ बदली इस बदलती शैली ने लोकरंग को अनेकों रूपों में मंच पर प्रस्तुत करना शुरू कर दिया जिसके कारण भारतीय इतिहास में वर्णित लोक कथाएँ, गीत नृत्य, संस्कृति आदि ने अपने नये कीर्तिमान स्थापित किए। भारतीय लोकरंगमंच का आधार ग्रामीण समाज है जिसमें सामान्य जन ने कथात्मक रूप में कथा या सूत्रधार के माध्यम से मंच पर अभिनय किया। भारतीय लोक रंगमंच में कथाओं की लंबी परम्परा के साथ-साथ आदर्श, मूल्य, परम्परा, संस्कृति, दार्शनिक सिद्धांत और धार्मिक ग्रंथों का प्रचार भी शामिल है। सामान्य जन ने नृत्य, संगीत, गीत व सामान्य उपकरणों ढोल मंजीरे, मृदंग, तबला, हारमोनियम, सारंगी, वीणा आदि के द्वारा लोक संस्कृति को अभिव्यक्त किया।

भारत में लोक रंगमंच अलग-अलग प्रदेशों में रामलीला, रासलीला, जात्रा, स्वांग, माच, तमाशा, ख्याल, दशावतार, करियाला, ओट्टन थुलाल, तेरूक्कुटू, भाम आदि अनेकों शैलियाँ हैं, उसी प्रकार भारत के उत्तराखंड अंचल की लोकनाट्य शैलियाँ भी अलग-अलग रूपों में विद्यमान हैं।

उत्तराखंड गढ़वाल के लोकनृत्य जैसे पांडवनृत्य, लांग, भैलानृत्य, ऋतुनृत्य, चौंफुला, झुमेलो, छोपती, तांदीनृत्य, थड्या और स्वांग आदि नृत्य परम्पराएँ जीवित रही हैं। समय के साथ-साथ पौराणिक आख्यान, कथाओं, किवदंतियों पर आधारित नृत्य नाटिकाओं में पांडव नृत्य बहुत प्रसिद्ध रहा है। उत्तराखंड में आयोजित मेले जिन्हें 'कौथिग' कहा जाता है। वहाँ ढोल-दमांऊ आदि के द्वारा और जागर कथाओं में डौंर-थाली (तांबे की थाली) और हुडके आदि वाद्ययंत्र लोक नृत्य का समां बांध देते हैं।

भारत में प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पारसी रंगमंच के उत्थान के साथ-साथ गढ़वाली रंगमंच में भी बदलाव आए। 1920-1930 के दशक में श्रीकृष्णावतार, सत्यवादी हरिश्चन्द्र, दानवीर कर्ण और धर्मराज युधिष्ठिर आदि पौराणिक कथाओं पर आधारित नाटक खेले गए। गढ़वाली भाषा का पहला नाटक भवानीदत्त थपलियाल द्वारा सन् 1911 में 'जय-विजय' लिखा गया। सन् 1914 में प्रसाद नामक नाटक लिखा। सन् 1934 में ईश्वरीदत्त जुयाल का 'परिवर्तन' नाटक प्रकाशित हुआ। टिहरी के वाणी भूषण शर्मा का प्रेम सुमन नाटक 1936 में प्रकाशित हुआ। सन् 1940 में भगवती प्रसाद पांथरी के दो नाटक 'भूतों खोह' और अद्यपतन प्रकाशित हुए इन नाटकों में भगवती प्रसाद ने स्वाधीनता संग्राम में पहाड़ी लोगों की मनोदशा को चित्रित किया है।

50 के दशक के आस-पास जीत सिंह नेगी का नाटक 'भारी भूल' प्रकाशित हुआ। बलदेव प्रसाद ने सती 'रामी' के गीत रामी पर आधारित गीति नाटिका भी लिखी। इसी दौर में ललित मोहन थपलियाल के चार एकांकी- 'खाडू लापता', अछर्फ्यू कू ताल, घर जवैं और एकीकरण आए। इन नाटकों में प्रहसन, व्यंग्य के साथ-साथ विसंगतियों को भी उजागर किया गया।

सन् 70-80 के दशक में राजेन्द्र धस्माना ने 'जंकजोड' नाटक लिखकर उत्तराखंड के रंगमंच को लीक से हटकर समाज में फैली समसामयिक विभीषिकाओं एवं परिस्थितियों को सामने लाने का अथक प्रयास किया।

मित्रानंद मैठाणी ने 'खोल्या', 'च्यूं', 'चौंकडी', फुलमंडी, सासु आदि नाटकों का लेखन किया। इन नाटकों को आकाशवाणी से प्रसारित भी किया गया था। स्वरूप ढोढियाल के अदालत, मंगतू बौल्या नाटक भी महत्वपूर्ण है। 1980 के आस-पास 'शैलनट' नामक नाट्यमंडली का गठन उत्तराखंड के विभिन्न नगरों में किया गया। इन मंडलियों द्वारा हिंदी में बीस सौ बीस, ढोल के बोल और नीली छतरी नाटक कला दर्पण दिल्ली की प्रस्तुति की गई।

1990 के दशक में 'जागर' लोकनृत्य शैली ने लोकनाट्य आंदोलन को आगे बढ़ाया। राजेन्द्र धस्माना का नाटक 'पैसा न ध्यला' का मंचन किया गया। आगे चलकर 'द हाई हिलर्स ग्रुप' द्वारा अनेकों नाटक खेले गए। जिसमें उमाकांत बलूनी का 'बांजी गौडी' (1987), डॉ. कुसुम नौटियाल द्वारा रचित "लिंडरिया छोरा" (1991), धीरज नेगी कृत 'जैसिंह काका' 1992, राजेन्द्र धस्माना रचित 'पैसा न ध्यला' आदि नाटकों द्वारा गढ़वाली रंगमंच को समृद्ध किया गया।

कुमाउंनी नाट्य परंपरा-सन् 1983 में आदर्श कला संगम द्वारा पारेश्वर गौड द्वारा रचित 'अमुसी की रात' (गढ़वाली नाटक का कुमाउंनी अनुवाद) का मंचन कान्हा पंत के सफल निर्देशन में किया गया। कुमाउंनी भाषा में राजुला, मालूशाही, अजुला बफौल, हरूरीत, रामी जैसी अनेकों मंच प्रस्तुतियाँ दी। वहीं पर्वतीय लोककला मंच द्वारा 'कगौरे आग', 'आछरी-माछरी', 'राज्य एक स्वप्न', 'बार-मासा' आदि हिंदी कुमाउंनी भाषा में रंगमंचीय प्रस्तुतियाँ दी गई। इस प्रकार नाट्य रंगमंच का एक विशद इतिहास उत्तराखंड के नाटकों का रहा है जिसे समय-समय पर मैदानी क्षेत्रों में विभिन्न कला केन्द्रों, मंडलियों द्वारा मंचित किया जाता रहा है।

मधुबाला नयान उत्तराखंड के लोकजीवन को व्याख्यायित करते हुए कहती है- "उत्तराखंड निराकार उपासना का स्थल, वेदांतमार्गी, शैव, स्मार्त, वैष्णव सभी सम्प्रदाय के लोगों की तपस्या-भूमि तो है ही साथ ही स्थानीय देवों-कुल देवता ग्राम देवता, जड़ पदार्थ पूर्वज पूजा से संबद्ध होने के कारण अलौकिक है। उत्तराखंड में सुदूर गंगा के दोआब, सुदूर परिचय से आई अनेक जातियाँ अपनी वर्ण-व्यवस्था के साथ मौजूद हैं। परिणामतः यहाँ का लोकजीवन इन जातीय विश्वासों के साथ-साथ वर्ण व्यवस्था एवं सनातन धर्म के अखंड सूत्र में आबद्ध हो चुका है।"[1] कुल मिलाकर उत्तराखंड में किरात, यक्ष, गंधर्व, खस, आर्य नाग,

यवन, दानव, हूण आदि समाज के चिन्ह मिलते हैं। यहाँ राम भक्ति का प्रादुर्भाव महाकाव्यकाल से हो चुका है वहीं पशुपालक समाज है जो सादा जीवन उच्च विचार की भावभूमि पर लहंगा, पीत, चुनरी, पैरों में कड़े, गले में हँसुली, नाक में नथ के साथ बुलाक, गुलबन्द, हाथों में कड़े और पुरुष अंगरखा धारण किए हुए वैष्णव धर्म में विश्वास रखते हुए राम की आराधना करता है।

साधना हेतु भी अनेक योग गुरु उत्तराखंड की भूमि में आ चुके हैं। धीरज सिंह नेगी अपनी पुस्तक उत्तराखंड समाज और संस्कृति में कहते हैं- "तपोभूमि के रूप में उत्तराखंड युगों से ही विभिन्न धर्मावलंबियों व तपस्वियों का आकर्षण केन्द्र रहा है। लेकिन जगदगुरु शंकराचार्य द्वारा भारत की चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना के फलस्वरूप उत्तर में ज्योर्तिमठ की स्थापना के बाद धर्म प्रचारकों का यहाँ आना सुगम हो गया और नाना मतमतान्तर यहाँ फैल गए जिन्होंने इस धरती पर ज्ञान तथा साधना के नये आयाम स्थापित किए।"[2] इस प्रकार देखा गया है कि उत्तराखंड की धरती पर अनेकों मतों का समय-समय पर प्रचार होता रहा। वहीं शिव और शक्ति यहाँ मुख्य रूप से पूजे जाते रहे हैं। शाक्त और शैव दोनों मतों, का हिमालय से पुरातन संबंध जोड़ते हुए धीरज सिंह नेगी कहते हैं- "हिमालय की पुत्री पार्वती, हैमवती (हेमवती) ही कालान्तर में शाक्तों की आराध्य देवी बनी और उमा, पार्वती के दोनों जन्मों सती और उमा का क्रीड़ा क्षेत्र यही उत्तराखंड हिमालय रहा है। उत्तराखंड हिमालय की जितनी चोटियाँ और शैल शिखर है, उन पर एक न एक देवी मंदिर अवश्य मिलेगा! उत्तराखंड हिमालय के चमोली जनपद में प्रत्येक बारहवें वर्ष में आयोजित होने वाली अद्भुत नंदा राज जात इस क्षेत्र में शाक्त प्रभाव को पुष्ट करता है।"[3] वास्तव में उत्तराखंड सर्व मतावलम्बी है यहाँ एक ही स्थान पर विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश, देवी, स्थानीय देवी देवता, ग्राम देवी-देवताओं आदि के साथ-साथ पूर्वजों की आत्माओं को शांत करने हेतु उन्हें भी पूजा जाता है। केदारनाथ धाम तो साक्षात शिव भूमि है। उत्तराखंड की सामाजिक संरचना में, रीतिरिवाजों, संस्कृति में लोकपरम्पराओं में पाण्डव कथा का विशेष महत्व है। सम्पूर्ण उत्तराखंड में पाण्डव-जागर व नृत्य यहाँ की लोक संस्कृति को उजागर करता है। पुरातन काल से ही ऋषि मुनियों की तपस्या स्थली माना जाने वाला भारत का यह उत्तराखंड बद्रीनाथ धाम के रूप में स्वर्गारोहण का द्वार भी माना जाता है। इस प्रकार देवी-देवताओं की उपासना व परम्पराओं के चलते ही इसे देवभूमि भी कहा जाता है।

किसी भी लोकरंगमच की जान उसके गीतों में होती हैं देवेन्द्र राज अंकुर लोकरंगमच की विशेषता उनके गीतों में बताते हुए कहते हैं- "उत्तर भारत की लगभग सभी लोक नाट्य शैलियाँ मुख्य रूप वाचिक हैं। वे संवाद और अधिक से अधिक गीत के माध्यम से अपना रास्ता तलाश करती हैं इनमें न तो भड़कीले भारी भरकम कास्टयूम, न आभूषण और न ही रूपसज्जा का चलन है अभिनय शैली में कोई शैलीबद्धता नहीं है एक दूसरे के आमने-सामने खड़े या अधिक से अधिक मंच के एक सिरे से दूसरे सिरे की ओर आने जाने से अदायगी लगभग सपाट होने की हद तक किया जाने वाला अभिनय। ऐसे में इन अभिनेता के पास गायन के अलावा कोई ऐसा विशेष तत्व नहीं, वे स्वयं गाते हैं और संगीत-मण्डली मात्र उनकी संगत करती है।"[4]

उत्तराखंड के निवासी उत्सव, मेले के शौकीन है। उत्सव का अर्थ ही होता है किसी विशिष्ट अवसर पर मन को आनन्द, उल्लास, हर्ष प्रदान करने वाला वातावरण। उत्तराखंड में यह हर्षोल्लास का वातावरण मेले, कौथिग, नृत्योत्सव में मिलता है। डॉ. नंदकिशोर हटवाल कौथिग मेलों को लोक संस्कृति के संरक्षण के रूप में बताते हुए कहते हैं- "अगर उत्सव मेले नहीं होते तो कतिपय-नृत्यों का आयोजन न होता तो लोक कलाओं की ये विधायें विस्मृत होकर समाप्त हो जाती। नंदाष्टमी का उत्सव होता है तो नंदा देवी के जागरण गाए जाते हैं। इस अवसर पर जागर गायन को आवश्यक माना जाता हैं इसलिए जागरों की सुंदर विद्या आज हमारे समाज में जिंदा है इसी प्रकार चांचडी, चौंफुला जैसे गीत नृत्यों का आयोजन ही लोकोत्सवों के अवसर पर होता है। और इनका आयोजन करने का अर्थ है इन गीत नृत्य विधाओं को जीवन देना।"[5] वास्तविकता में उत्तराखंड के लोक साहित्य में लोकोत्सव, लोकगाथाएँ और लोकनृत्य सभी मिलकर एक अनूठे लोकरंगमंच का निर्माण करते हैं। इस लोकरंगमंच के अंतर्गत विभिन्न उत्सवों, मेलों, (कौथिग) सामाजिक सांस्कृतिक अवसरों पर सामूहिक रूप से किए जाने वाले लोक नृत्य आते हैं- देवी-देवताओं के लोक नृत्य (जागर, वार्ता, बाजे) जागर लोकनृत्य अतिविशिष्ट आक्रामक गायन शैली में हुडका, डौंर, थाली आदि वाद्य यंत्रों द्वारा किसी व्यक्ति के शरीर में दैवी आत्मा को प्रविष्ट करवाने के लिए देवताओं का आह्वान करते हैं। उन सभी प्रक्रियाओं में व्यक्ति आवेश में भरकर दैवी रूप में नृत्य करने लगता है कभी-कभी यह एकल नृत्य होता है कभी एक से ज्यादा देवताओं के आह्वान किए जाने के कारण यह नृत्य समूह में भी होता है। इन देवी देवताओं में नृसिंह, देवी, भैरव, देवी भगवती, देवी नन्दा, घंटाकर्ण, कृष्ण चरित्र, रूक्मिणी, चन्द्राबली, शिव पार्वती, कुण्ड चतुर्दशी, हंत्या, निरंकार, गरूड़ासन आदि देवी देवताओं के अलग-अलग जागर हैं। प्रत्येक आवेशित व्यक्ति जिस देवी देवताओं को अपने शरीर में समाता है, उसी के अनुरूप नृत्य व क्रीड़ाएँ करने लगता है। कुछ व्यक्ति नृत्य करते समय लाल-लाल अंगारों को खा जाते हैं, कुछ आग में तपी हुई वस्तु को जीभ से चाटते हैं। भाँति-भाँति के विचित्र दृश्य इस नृत्य के दौरान देखने को मिलते हैं। धीरज सिंह नेगी अपनी पुस्तक उत्तराखंड समाज और संस्कृति में व्यक्त करते हैं- "उन जागर गायकों को 'जागरी' कहते हैं और इस जागर गायन को घड़याल्या कहते हैं जागर प्रारम्भ करने से पूर्व समस्त सृष्टि के जागरण के रूप में मंगलाचरण गाया जाता है-

"प्रभात को परब जाग गो सरूप पृथ्वी जाग।

धर्म सरूपी अगास जाग, उदंयकारी कांठा जाग।

भानुपंखी गरूड़ जाग, सत लोक जाग।

मेघ-लोक जाग, इन्द्र लोक जाग।"

दिन अर रात जाग, जमीन-आसमान जाग।।"[6]

X X X

गुरु गोरखनाथ का चेला जाग, पिता भस्मासुर माता महाकाली जाग

लोह खम्ब जाग, जाग रंतों होई जाई खीर बाबा नरसिंह...

यह नृत्यकला जागरियों द्वारा इतनी आक्रामक शैली व आवेश में गाई जाती है कि उत्तराखंड की संस्कृति न जानने वाला भी उस समय वहाँ बैठा हो तो वह भी आवेश में आ जाए। इस प्रकार पूरी रात भर का जागरण देवी देवताओं की मनौती, पूजा, अर्चना, बलि, होम इत्यादि द्वारा ये जागर सम्पन्न होती है।

उत्तराखंड के लोक विरासत को 'विकीपीडिया' में कुछ इस प्रकार दर्शाया गया है- "गढ़वाल भारत के उत्तराखंड राज्य का एक प्रमुख क्षेत्र है यहाँ की लोक भाषा गढ़वाली तथा हिंदी है। गढ़वाली लोकनृत्यों के 25 से अधिक प्रकार पाए जाते हैं इनमें प्रमुख हैं- (1) मांगल या मांगलिक गीत (2) जागर गीत (3) पवांडा (4) तंत्र-मंत्रात्मक गीत (5) थड्या गीत (6) चौंफुला गीत (7) झुमैलो (8) खुदैड़ (9) वासंती गीत (10) होरी गीत (11) कुलाचार (12) बाजूबंद गीत (13) लामण (14) छोपती (15) लौरी (16) पटखाई में छूड़ा (17) न्यौनाती (18) दूड़ा (19) चैती पसारा गीत (20) बारहमासा गीत (21) चौमासा गीत (22) फौफती (23) चांचरी (24) झौड़ा (25) केदरा नृत्य गीत (26) सामयिक गीत (27) अन्य नृत्य गीतों में हंसौड़ा, हंसौडणा, जात्रा, बनजारा, बौछड़ों बौंसरेला सिपैया इत्यादि। इन अनेक प्रकार के नृत्य गीतों में गढ़वाल की लोक विश्रुत संस्कृति की झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।"[7]

पांडव नृत्यः- उत्तराखंड में माता कुंती के साथ सभी पाण्डवों की पूजा अर्चना व नृत्य कराया जाता है महाभारत गाथा में महाभारत युद्ध के तेरहवें दिन गुरु द्रोणाचार्य द्वारा चक्रव्यूह रचा जाता है। अभिमन्यु ने चक्रव्यूह भेदन की कथा गर्भ में सुनी थी जिसके कारण केवल अभिमन्यु चक्रव्यूह भेदन विद्या ही जान पाया यह भेद कौरव जानते थे। इसलिए उस दिन अर्जुन को युद्ध से दूर भेज दिया जाता है और अभिमन्यु चक्रव्यूह भेदकर बड़ी वीरता से लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त होता है। उत्तराखंड का लोकनाट्य-पांडव नृत्य लेख में प्रो. हरिमोहन के शब्दों में "अभिमन्यु का शव पड़ा है युधिष्ठिर एवं कृष्ण पास ही खड़े हैं। सब शोकाकुल हैं और मौन हैं।" अर्जुन कहते हैं, "मेरा भैजी बोला झट बांछ खोला... मैरौ अभिमन्यु कांठा कौ सूरिजो, जोडिको मलेसु आज कैन फट्टाये... मेरो अभिमन्यु कलेजा फांक... झटपट बतावा कैन गए सांक, या बीठो की फ्यूली फूलण नि दिन्यो..." मौन क्यों है? मेरे दिल का जो सूरज और मेरे कलेजे का टुकड़ा है, तुरंत बताओ यह हालत किसने की? इस फूल को खिलने से पहले ही किसने मसल दिया? तब कृष्ण अर्जुन को समझाते हुए संदेश देते हैं- "सोक न कर तू हे अर्जुन, ये दिन आंदा रैंदा... विरजू औंदा जोस अतौंदा, आंसू देखी चलि जांदा... ये को सोक न कर हे जी... यो तो अमर वै चली गै... भारत मां जन्मी कारण से... आज उरिप सों वेंगे... सोक न कर तू हे अर्जुन..."[8] इस प्रकार कृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि तू शोक मत कर मनुष्य जीवन नश्वर है यह आता जाता रहेगा। तेरा पुत्र अभिमन्यु तो अमर हो गया। इस नृत्य नाटिका को देखकर वहाँ दर्शकों की आँखों में आंसू आ जाते हैं।

हल्द्वानी अमृत विचार में पाण्डव नृत्य के विषय में कहा गया है कि "प्रत्येक वर्ष नवम्बर से लेकर फरवरी तक केदारघाटी में पांडव नृत्य का आयोजन होता है इसमें लोग वाद्य यंत्रों की थाप और धुनों पर नृत्य करते हैं मुख्यतः जिन स्थानों पर पांडव अस्त्र छोड़ गए थे, वहाँ पांडव नृत्य का आयोजन होता है। यहाँ ढोल दमाऊं की थाप पर आज भी आते हैं पांडव! गाँव की अच्छी फसल की कामना करने वाला नृत्य हैं।"[9] उत्तराखंड के गढ़वाल और कुमाऊं दोनों अंचलों में पाण्डवों की कथा को अलग-अलग नृत्य मुद्रा में प्रस्तुत किया जाता है।

अछरियों के नृत्यः उत्तराखंड में अछरियाँ अल्पायु में काल का ग्रास बनी युवतियाँ होती हैं जो खैट पर्वत पर निवास करती हैं। सुंदर युवतियों को देवता हरण करके अछरियाँ बना लेते हैं इन्हें ही अप्सरा या मातरियां भी कहा जाता है। उत्तराखंड समाज एवं संस्कृति पुस्तक में धीरज सिंह नेगी द्वारा उद्धरित आंछरियों की जागर की कुछ पंक्तियाँ-

"तुम रंदा ले तै ढुंगडियां गाँव दिसई दांगुडियो

तुम हवेली राँतों की ध्याण दिसई दांगुड़ियो

चला बैंणी मार्छा काटण दिसई दांगुड़ियो

चला बैंणी मार्छा कूटन दिसई दांगुडियो"[10]

पांवडे या रणभूत नृत्यः पांवडे या रणभूत नृत्य में गीत व वाद्य यंत्रों के साथ युद्ध में मृत योद्धाओं की पूजा व उनकी आत्मा का आह्वान करके उन्हें नचाया जाता है। मृत योद्धाओं की आत्माओं की शांति के लिए परिवार के लोग पांवडे या रणभूत नृत्य करते हैं। इस नृत्य को 'देवता घिरना' भी कहते हैं। सरजू कौल, माधौसिंह भण्डारी, गढ सुम्माल, तीलू रौतेली, जीतू बगड़वाल तथा कत्थूरी शासकों के पांवडे विशेष रूप से प्रचलित हैं।

सामाजिक लोक नृत्यः बसंत पंचमी से लेकर विषुत संक्रांति तक गाँवों में होने वाले कौथिग में मनाये जाने वाले लोकनृत्य है। कौथिग मेले शब्द का ही पर्याय है, परन्तु इन कौथिग में केवल मनोरंजन ही नहीं होता था अपितु दूर-दराज अंचल में रहने वाले सगे संबंधी, सखी सहेली, नाते रिश्तेदारों की मिलन स्थली भी यह कौथिग हुआ करता है। इसलिए समय से पहले ही मिलन की अभिलाषाएँ हरेक खुदेड़ के मन में रहती हैं।

थड़्या लोकनृत्यः- बसंत पंचमी से बिखोति तक विवाहित बालिकाओं द्वारा घर के आंगन या चौक में वृताकार रूप में नृत्य किया जाता है। पुरुष भी महिलाओं के साथ मिलकर थडया लोक नृत्य में पैरों के कुशल संचालन से समा बांध देते हैं। थडया लोक नृत्य का प्रसिद्ध गीत है-

"रणिहाट नी जानो गजे सिंह

मेरा बुल्यां मान्याली गजे सिंह"

चौंफुला लोकनृत्यः- इस लोक नृत्य में स्त्री-पुरुष अपनी अलग-अलग टोली बनाकर नृत्य करते हैं। यह श्रृंगार भाव प्रधान नृत्य है। पौराणिक मान्यताओं के अनुसार माता पार्वती ने शिवजी को प्रसन्न करने के लिए यह नृत्य किया था। इस नृत्य में वाद्य यंत्रों के स्थान पर ताली, थाप, चूड़ियों की खनक पैरों की थाप, झांझ की झंकार, नुपूर की रूनझुन ही ध्वनि का दायित्व निभाती है। इस नृत्य में पुरुष नर्तकों को चौंफुला तथा स्त्रियों को चौंफुलों कहते हैं।

झुमैलौ लोक नृत्यः- बसन्त ऋतु के आगमन पर यह नृत्य किया जाता है। झूम-झूम कर नृत्य करने के कारण इसका नाम झुमैलो पड़ा। इस नृत्य में पदों को दो-दो बार थाप देकर व गीत व लयात्मकता के सम्मिश्रण से झूम-झूमकर नृत्य करने की परंपरा है-

"झुमैला झुमैला झुमैला झुमैला

पंचमी ऐग्या लगोला झुमैला।"

चांचरी नृत्यः- चांचरी माघ माह की चांदनी रात में स्त्री पुरुषों द्वारा लिया जाने वाला श्रृंगारिक नृत्य है जिसमें हुडकी की थाप पर सभी ताल से ताल मिलाते हैं। कुमाऊँ क्षेत्र में चांचरी को 'झोडा' कहा जाता है।

छोपती नृत्यः - प्रेमासक्ति की भावना से भरा स्त्री पुरुष के बीच संयुक्त संवाद प्रधान नृत्य है।

घुघती नृत्यः - बालक-बालिकाओं द्वारा मनोरंजन हेतु यह नृत्य किया जाता है।

भैलो-भैलो नृत्यः- गढ़वाल प्रांत में दीपावली पर्व पर भैला बांधकर यह नृत्य किया जाता है।

बैर नृत्यः- कुमाऊँ क्षेत्र में गीत गायन प्रतियोगिता के रूप में दिन रात किया जाने वाला नृत्य है।

भागनौली नृत्यः- हुडका और नगाड़ा बजाते हुए यह नृत्य कुमाऊँ अंचल के मेलों में किया जाता है।

बगवान नृत्यः- कुमाऊँ अंचल में दो विपक्षी पक्षों पर पत्थर फेंकने के साथ किया जाने वाला नृत्य है।

बाजूबंद लोकनृत्यः - इस नृत्य में स्त्री पुरुषों के बीच प्रेम संवाद होते हैं, उन्हीं संवादों की ताल पर नृत्य किया जाता है।

सरौं अथवा छोलिया नृत्यः यह नृत्य युद्ध में विजय प्राप्ति के पश्चात् हर्षोल्लास में किया जाने वाला नृत्य है। इस नृत्य में ढाल एवं तलवारों के करतब के साथ नृत्य किया जाता है। ढोल की ध्वनि के साथ नर्तक ढाल और तलवार को अनेकों मुद्राओं में चलाते हैं। "न्यूज 18 हिंदी" के आलेख में छोलिया नृत्य के विषय में कहा गया है कि "नृत्य की इस विधा में छोलिया नर्तक टोली बनाकर नृत्य करते हैं नर्तकों की वेशभूषा और उनके हाथ में रहने वाली ढाल-तलवारें बताती हैं कि यह नृत्य युद्ध के प्रतीक के रूप में कुमाऊँ में अस्तित्वमान रहा है। इस नर्तक टोली के साथ संगीतकारों का एक दल अलग से चलता है जो मशकबीन तुरही, ढोल-दमांऊ और रणसिंघा जैसे लोक वाद्ययंत्र बजाते हैं। नर्तकों का शारीरिक कौशल इस कला में इस मायने में महत्वपूर्ण है कि उन्हें युद्धरत सैनिकों के उन दांव पेंचों की नकल करनी होती है,

जिसमें वे छल के माध्यम से शत्रु को परास्त करते है। इसी कारण इसे छोलिया (छलिया) नाम दिया गया।"[11]

दुसका नृत्यः- कुमाऊँ के मुनस्यारी व जोहार घाटी में किया जाता है।

मुखौटा नृत्यः- कुमाऊँ अंचल के पिथौरागढ़ में सौर घाटी की हिलयात्रा में मुखौटा नृत्य किया जाता है। इसमें अलग-अलग मुखौटे लगाकर आकर्षक मुद्राओं के साथ नृत्य करने की परम्परा है।

जागरण पत्र में रक्षा पंथारी उत्तराखंड के लोक नृत्यों की अलग पहचान नामक लेख में लिखती हैं- "उत्तराखंड की संस्कृति जितनी समृद्ध है, उतने ही मन को मोहने वाले यहाँ के लोकगीत-नृत्य भी हैं। यहाँ लोक की विरासत समुद्र की भांति है, जो अपने आप में विभिन्न रंग और रत्न समेटे हुए है। हालांकि वक्त की चकाचौंध में अधिकांश लोकनृत्य कालातीत हो गए बावजूद इसके उपलब्ध नृत्यों का अद्भुत सम्मोहन है।"[12]

उत्तराखंड की संस्कृति एवं लोकरंगमंच दैवीय भूमि होने के कारण अपनी विशिष्टताओं के साथ अतुलनीय है। किन्तु आज भी उत्तराखंड के समूचे सांस्कृतिक परिदृश्य को नये रूप में विश्लेषण की आवश्यकता है। समय के साथ-साथ बहुत से बदलाव आए। कुछ लोकगीत, लोकनाट्य लुप्तप्रायः हो चुके हैं और उनके लुप्त होने के पीछे कारण बुद्धिजीवी वर्ग का अपनी पैतृक भूमि से पलायन है। डॉ. पूरनचंद्र जोशी अपनी पुस्तक 'परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम में इस पलायन पर चिंतित होते हुए कहते हैं- "नगरों में लोक-संस्कृति के प्रयास लोक-संस्कृति को मध्यमवर्गीय ढाँचे में ढालने की दिशा में ले जायेंगे वे मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों और कलाकारों को लोक संस्कृति के साँचे में ढालने में तभी सफल होंगे जब उनका आधार ग्राम होगा। असली लोक-संस्कृति तो उस मछली की तरह है जो जल से अलग होते ही निष्प्राण हो जाती है, यानि श्रम पर आधारित लोक-जीवन से अलग होते ही कृत्रिम हो जाती है। लोक जीवन में श्रम की प्रक्रिया और कलात्मक सृजन की प्रक्रिया का जो अन्योन्याश्रय संबंध है, वही उनकी ताजगी और सजीवता का मूल स्रोत है।

X X X

महानगरीय पत्रों में अभिजात वर्ग से प्रशंसा अवश्य पा सकते हैं, लेकिन लोक-कथा के मूल स्त्रोतों या प्रेरणाओं से हमारा संबंध टूटता चला जाता है। ऐसे कलात्मक प्रयास प्रतिद्वन्दिता के युग में पहाड़ी संस्कृति को खरीद-फरोख्त की बाजारू वस्तु बना देने का खतरा भी पैदा करते हैं।"[13] पर्वतीय क्षेत्रों से पलायन को अलग परिप्रेक्ष्य में देखते हुए कुछ सुधारवादी तरीकों द्वारा अपनी जड़ों से जुड़ाव की ओर ध्यान देना होगा। कुछ ऐसा जिससे पहाड़ी लोकसंस्कृति भी जीवित रहे और पहाड़ी लोकरंगमंच अपनी विशिष्टताओं के साथ- साथ नित नये आयाम गढ़ने में सफल हो पाये तभी हम अपनी विरासत को और भी समृद्ध बना पायेंगे।

संदर्भः

1. मधुबाला नयाहिमालयी इतिहास के विविध आयाम, लेख- इतिहास परंपरा और लोकवार्ता संस्कृति की पीठिका (उत्तराखंड के संदर्भ में, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि. प्रथम संस्करण 2013, पृ. 443

2. धीरज सिंह नेगी, उत्तराखंड समाज और संस्कृति, समय साक्ष्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2017, पृ. 122

3. वही, पृ. 122

4. देवेन्द्र राज अंकुर, रंगमंच की कहानी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2021, पृ. 67

5. डॉ. नंदकिशोर हटवाल, उत्तराखंड का जन इतिहास लोक संस्कृति एवं समाज, लेख उत्तराखंड के सांस्कृतिक प्रतिनिधि लोकोत्सव और मेले, समय साक्ष्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2017, पृ. 142

6. धीरज सिंह नेगी, उत्तराखंड समाज और संस्कृति, समय साक्ष्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2017, पृ. 138

7. hi.m.wikipedia.org गढ़वाल मंडल विकिपीडिया

8. www.abhivyakti_hindi.org उत्तराखंड का लोकनाट्य पांडव नृत्य

9. amritvichar.com गढ़वाल का एक एक ऐसा लोकनृत्य जिसमें ढोल, दमाऊँ की याद पर अवतरित होते हैं पाँच पाण्डव, 07 July 2021, 11.09 AM.

10. धीरज सिंह नेगी, उत्तराखंड समाज एवं संस्कृति, समय साक्ष्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2017, पृ. 139

11. hindi.news18.com, उत्तराखंड का मशहूर लोकनृत्य है छोलिया, छल से मिला ये नाम, Nov. 13, 2021, 10.00 I.S.T.

12. रक्षा पंथारी, उत्तराखंड के लोक नृत्यों की है अलग-अलग पहचान, जागरण पत्र, Saturday 17 Nov. 2018, 5:26 P.M. (IST)

13. डॉ. पूरनचन्द्र जोशी, परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1987, पृ. 237

-डॉ. ममता कुमारी

सहायक आचार्य, स्वामी श्रद्धानंद महाविद्यालय,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली